

* श्रीश्रीगुरनौराज्ञी नवतः *

*	स वं पूर्सा परो धर्मो यतो भक्तिरधोकजे ।	*
पूर्णादेव यै तौ धर्म वै वै अम्बुदम्		पैलगद्यै यै तौ धर्म वै वै अम्बुदम्
*	अहैतुक्यप्रतिहता पयात्मासुप्रसीदति ॥	*

सबोंत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य धर्म मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, अम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष १० } गौराब्द ४७८, मास—श्रीधर २३, वार-वासुदेव { संख्या ३
} रविवार, ३१ आवण, सम्वत् २०२१, १६ अगस्त १९६४ }

श्रीमुकुन्दाष्टकम्

[श्रील-रघुनाथदास-गोस्त्वामिना विरचितम्]

श्रीमुकुन्दाय नमः

वलभिदुपल-कान्ति-द्वोहिणि श्रीमद्भुजे छुमुणा-रस-विलासैः सुष्ठु-गान्धविकायाः ।

स्वमदन-नृपशोभां वर्ढयन देह-राज्ये प्रणयतु मम नेत्राभीष्ट-पूर्ति मुकुन्दः ॥१॥

उदित-विधु पराद्दं-ज्योतिश्ललङ्घि-वक्त्रो नव तरुणिम रज्यद्वाल-शेषातिरम्यः ।

परिषदि लजितालीं दोलयन् कुण्डलास्यों प्रणयतु मम नेत्राभीष्ट-पूर्ति मुकुन्दः ॥२॥

कनक-निवह-शोभा-निन्दि पीतं नितम्बे तदुपरि-नव-रक्तं वस्त्रमित्यं दधानः ।

प्रियमिव किल वर्णं रागयुक्तं प्रियायाः प्रणयतु मम नेत्राभीष्ट-पूर्ति मुकुन्दः ॥३॥

सुरभि-कुसुम-वृत्ते वासितांभः समृद्धैः प्रिय-सरसि निदाषे सायमाली-परीतां ।

मदन-जनक-सेकैः खेलयन्नेव राधां प्रणयतु मम नेत्राभीष्ट-पूर्ति मुकुन्दः ॥४॥

परिमलमिह लव्धा हन्त गान्धविकायाः पुलकित तनुस्त्वेऽहमदस्तस्त्वग्नेन ।

निखिल-विपिन-देशाद्वासितानेव जिघन् प्रणयतु मम नेत्राभीष्ट-पूर्ति मुकुन्दः ॥५॥

प्रणिहित-भुजदण्डः स्कन्धदेशे वराञ्ज्ञायाः स्मित-विकसित-गण्डे कीर्तिदा कन्यकायाः ।
 मनसिज-जनि-सौख्यं चुम्बनेनैव तन्वन् प्रणयतु मम नेत्राभीष्ट पूर्ति मुकुन्दः ॥६॥
 प्रमद दनुज गोषुध्याः कोऽपि सम्वत्तंवहिं-वैजभूवि किल पित्रो मूर्तिमान् स्नेहपुंजः ।
 प्रथम-रस-महेन्द्रः इयामलो राधिकायाः प्रणयतु मम नेत्राभीष्टपूर्ति मुकुन्दः ॥७॥
 स्वकदन-कथायाञ्जीकृत्य मृद्दीं विशाखां कृतचटु-सलिलान्तु प्रार्थयन प्रीढशीलां ।
 प्रणय-विघुर-राधामान-निवासिनाय प्रणयतु मम नेत्राभीष्ट-पूर्ति मुकुन्दः ॥८॥
 परिपठति मुकुन्दस्याष्टकं काकुभि यं: स्फूटमिह विषयेभ्यः संनियम्येनिद्वयाणि ।
 वज्रनव-नुवराजो दर्शयन् स्वं सरावं स्वजन गणन मध्ये तं प्रियायास्तनोति ॥९॥

अनुवाद—

इन्द्रनीलमणिको भी पराभूत करनेवाले अपने अङ्गोंमें लगे हुए कुंकुम रसके विलास द्वारा श्रीराधा के देहराज्यमें जो अपने मदन-नृपतिकी शोभाका सुन्दर रूपसे परिवर्द्धन कर रहे हैं अर्थात् जिस प्रकार कोई दूसरा राजा भी प्रजाकी हाल-चाल जानने के लिये राज्यमें सर्वदा भ्रमण करता हुआ राज्यके उत्तम-उत्तम उपकरणोंको प्रजासे प्राप्त होकर अपनी शोभाकी वृद्धि करता है, उसी प्रकार जो श्रीमती राधिकाजीके देहराज्यस्थित कुंकुमोपकरणको आलिङ्गन द्वारा प्राप्त होकर अपने सौन्दर्यकी वृद्धि करते हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥१॥

जिनका बदन परादूर्द-संख्यक समुदित चन्दमा-गणोंकी सम्मिलित कान्तिको भी पराभूत करता है, जिनके नव-तारुण्य द्वारा बाल्यावस्थाका अंतिमभाग रखित हो रहा है अर्थात् उसके द्वारा जो अतिशय रमणीय हो रहे हैं और जो अपने दोनों कुण्डलोंसे सखीसमाजमें श्रीलक्षिताकी वयस्या श्रीमती राधा को चंचल बना रहे हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥२॥

जो अपने नितम्बदेशमें स्वर्णराशिको भी तुच्छ करनेवाले पीताम्बर पहने हुए हैं तथा उसके ऊपर सालरङ्गके बख्ख इस प्रकार धारण कर रखे हैं, कि उससे ऐसा निश्चित रूपमें प्रतीत होता है, मानो वे प्रियतमा श्रीमती राधाका प्रिय रागयुक्त वर्ण धारण कर रखे हों, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥३॥

जो राधाकुण्डमें श्रीघमकालमें अपराह्नके समय अपनी सखियोंसे परिवृता श्रीराधाको सुरभि-कुसुमों से सुवासित अतएव कामोत्पादक जलसिंचन द्वारा कीड़ा करा रहे हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥४॥

अहो ! कितने बड़े आश्चर्यकी बात है ! श्रीराधा-कुण्डमें श्रीमती राधिकाजीके अङ्ग-परिमलको प्राप्त कर तत्त्वाण ही पुलकित-अङ्ग और उन्मत्त होकर जो निखिल बन-प्रदेशसे समागत और सुवासित गन्ध का आव्राण कर रहे हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥५॥

जो अतिशय उत्तम अङ्गोंवाली, कीर्तिदाकी कन्या श्रीमती राधाके कंधोंपर अपनी भुजाओंको

रखकर उनके स्मित-विकसित गण्ड-प्रदेशका चुम्बन करके ही कन्दर्पके लिए सुखका विस्तार करते हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥६॥

जो बृन्दावनमें मतवाले दानबोंके लिए अनिर्वचनीय प्रलयाग्नि हैं, पिता-माता नन्द-यशोदाके मूर्तिमान स्नेहकी राशि हैं, तथा जो श्रीमतीराधिका के लिए श्यामवर्ण रसराज-शृङ्खार-स्वरूप हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥७॥

जो प्रणयमें व्याकुल श्रीराधाका मान भंग करने

के लिए अपनी अतिशय उद्घोगपूर्ण बातोंसे कोमल स्वभाववाली विशाखाको प्रसन्न कराकर प्रगल्भ स्वभावा लक्षितासे बड़े कातर होकर प्रार्थना करते हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रोंका अभीष्ट पूर्ण करें ॥८॥

जो व्यक्ति विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा कर स्पष्ट रूपसे बड़े कातर होकर इस मुकुन्दाष्टकका पाठ करते हैं, उनके नवीन युवराज श्रीकृष्ण श्रीमतीराधिकाजी के साथ युगलमूर्तिका दर्शन देकर श्रीराधाके स्वजनों में उसे प्रहण कर लेते हैं ।

सात्वत-श्राद्ध और कर्म-जड़ स्मृति

पत्र द्वारा प्रश्न

किसी कायस्थ कुलोद्भव शाक्तकी संतान हैं। वीस वर्षकी आयुमें ही संसारसे विरक्त होकर अपने कुलधर्म, कुलाचार, कुलगुरु और कुलदेवता सब कुछ छोड़कर श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रबतित गौदीय वैष्णव धर्मको प्रहण किया तथा सद्गुरुका चरण-अर्थ करके विष्णु-दीक्षा ली। इस प्रकार ६० वर्षकी आयु तक वे उक्त धर्मका पालन करते चले आ रहे हैं। इस समय वे बृन्दावनमें निवास कर रहे हैं। अभी कुछ ही दिन हुए उनकी माताका देहान्त हुआ है। अब यह प्रश्न है कि उनके लिये कितने दिनका अशौच होना चाहिए ? तथा कितने दिनोंके बाद उनके लिये मातृ श्राद्ध करना चचित है ? परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि उन्होंने कुलधर्मको छोड़कर वैष्णव-धर्म प्रहण कर लिया है और उनकी लोकाचारके प्रति तनिक भी रुचि नहीं है।

माताके देहान्तकी खबर पाकर उन्होंने बृन्दावन के बैष्णवों और परिदूतोंसे यह पूछा कि उन्हें क्या करना चचित है ? परन्तु उन बैष्णवों और परिदूतों ने भिन्न-भिन्न प्रकारकी व्यवस्थाएँ दी। किसीने कहा—अपने कुलाचारके अनुसार आपको एकत्ती-सबै दिन श्राद्ध करना चाहिए। किसीने कहा—कर्मियोंके मतानुसार वर्णधर्मकी विधियोंसे अशौच पालन करना तथा भाद्रादि करना भक्ति-विरोधी कार्य है। अतएव ऐसा करना महादोष है। किसीने बतलाया—कायस्थ जाति चक्रिय है। शास्त्रके अनुसार चक्रियका श्राद्ध तेरहवें दिन होना चाहिये। विशेष कर आपके बंश-परम्परामें अभी तक सभी लोग कर्मकारणके अनुसार ही कर्म आदि करते आये हैं। अतएव आपको भी इसी अनुसार कार्य करना चचित है। किसी-किसीका कहना यह है कि जब

आपने कर्मकाण्डको छोड़कर भक्ति मार्गका अवलम्बन कर लिया है, तब कर्मियोंका कोई भी आचरण आपके लिये पालन करना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा करना महाभक्ति विरोधी कार्य है। श्रीचैतन्य चरितामृतमें भी ऐसा कहा गया है—“भक्तिर विरोधी यत शुभाशुभ कर्म, सेह एक जीवेर अह्नान तमोधर्म ॥”

कुछ लोग चत्रिय-वर्णके अनुसार आद्व करनेमें भी आपत्ति कर रहे हैं। उनका कहना है कि कायस्थ यदि उपतीत धारण करनेवाला नहीं हो तो वह चत्रिय वर्णके अनुसार आद्वादि करनेका अधिकारी नहीं है। परन्तु कुछ लोग इस विचारको निराधार बतलाते हैं कि जब उन्होंने सद्गुरु पदाश्रय करके विष्णुदीना लेकर श्रीहरिनाम करते हैं, वैष्णव-आचारों एवं ब्रतोंका पालन करते हैं, तब वे वैष्णव हैं। शास्त्रमें ऐसे लोगोंको वैष्णव, भक्त और भागवत कहा गया है; अतएव अब वे शूद्र रहे कहाँ? श्रीहरिभक्तिविलास-प्रन्थमें ऐसा ही विचार पाया पाया जाता है। श्रीगोस्वामियोंने उक्त प्रन्थमें ऐसे-ऐसे अनेकों प्रमाण उद्भृत किये हैं, जिससे यह स्पष्ट रूपमें प्रमाणित हो जाता है कि वैष्णवोंमें शूद्रत्वका केश भी नहीं होता। उन प्रमाणोंमेंसे हम यहाँ पर तीनको उद्भृत कर रहे हैं—

(क) यथा काचनतां याति कांस्यं रसविधानतः ।

तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

(ख) न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता मताः ।

सर्वं वर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनाद्दने ॥

(ग) शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं द्वपचं तथा ।

वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ग्रुवम् ॥

यहाँ “दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणां”—इस शास्त्र प्रमाणके द्वारा उनका द्विजत्व सिद्ध है। उनमें शूद्रत्वका गंध भी नहीं है। शास्त्र, चत्रिय और वैश्य—इन तीनों जातियोंको द्विज कहा गया है। शास्त्रके अनुसार कायस्थ यदि चत्रियत्वसे गिर जाय, तो पुनः संस्कार द्वारा वह चत्रियत्वको प्राप्त हो सकता है। उपवीत धारण कर लेना ही महासंस्कार है—यह सर्वशास्त्र सम्मत विचार नहीं। उपवीतधारीके चत्रियत्वसे भगवद्भक्तके चत्रियत्वका महत्व कहीं बढ़ कर है। क्योंकि दीक्षाके प्रभावसे जब उनका द्विजत्व सिद्ध हो गया, तब तो वे द्विज होनेके कारण चत्रिय से भी ऊँचे उठ गये। क्योंकि शास्त्रमें द्विजत्वका अर्थ विप्रत्व किया गया है। जैसे—“भगवदीना-प्रभावेन शूद्रादिनामपि विप्रसाम्यं सिद्धमेव ।” ऐसी दशामें उनमें शूद्रत्वाका आरोप करना सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। इसलिए चत्रिय-विधानके अनुसार ही उनको आद्व करना उचित है। कुछ दूसरे लोग कहते हैं—श्रीहरिभक्तिविलासमें अशौचके सम्बन्धमें कोई उल्लेख नहीं है। अतएक वैष्णवोंको कोई अशौच आदि स्पर्श नहीं करता। वैष्णवजन हरिनामके प्रभाव से सर्वदा पवित्र होते हैं। “न कर्मवन्धनं जन्म वैष्णवानां विद्यते ।”

इस प्रकार नाना मुनियोंके नाना मत हैं। ऐसी दशामें सर्वजन विदित सर्वत्र प्रचारित सुप्रसिद्ध गौडीय-पत्रमें इस विवदमान विषयकी मीमांसा प्रकाशित होनेसे वैष्णव जगत्का महान उपकार

होगा। अनेक लोग उस मीमांसाके अनुसार कार्य कर सकेंगे।

भक्तवन्दिकर—

श्रीआशुतोष वसु, वसिरहाट (चौबीस परगना)

सदुचर

उपर्युक्त प्रश्नकी विचारपूर्ण शास्त्रीय मीमांसा करनेके लिये हमें कहा गया है। पत्रमें स्थान-स्थानपर लौकिक भाषाका प्रयोग देखा जाता है। सर्वप्रथम इन प्रयोगों पर ध्यान नहीं देनेसे शुद्ध-वैष्णव-विचार की पूर्णता और सुष्ठुपता नहीं होगी। इसका कारण यह है कि भाव ही भाषाका प्राण है। श्रीमद्भागवत, सातवत पुराणों और गोस्वामियोंकी भाषा, अन्याभिलाषी, कर्मी, कर्मजड़ स्मार्त या निर्विशेष ज्ञानियों की भाषासे पृथक है। भाषा हमारे हृदयगतभावों, वृत्तियों, हमारे सम्बन्ध-ज्ञान और भक्तिचिद्धान्तमें निपुणता आदिका अभिव्यञ्जक है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—जीवमात्र ही स्वरूपतः कृष्णदास या वैष्णव है। शुद्ध-जीवात्मा ही—वैष्णव है। शुद्ध-जीवात्माकी स्वाभाविक वृत्तियों केवल कृष्ण-सेवाकी ही वृत्ति होती है, यहाँ अन्याभिलाषा आदि दूसरी वृत्तियोंका गन्ध तक भी नहीं है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्षादि अन्याभिलाषरूप कैलब (कपटता) यदि हृदयक्षेत्रमें अधिकार कर लेते हैं, तभी ब्राह्मण, नृत्रिय, नैश्य, शूद्र अथवा शाक, शैव, सौर, गाणपत्य और बिद्धवैष्णव आदि औपाधिक अभिमान हमें अभिभूत कर लेते हैं। परन्तु वैष्णव निरुपाधिक होते हैं। औपाधिक विचारसे हम लोगोंमें जो-जो अभिमान उपस्थित होते हैं, वे ही 'अवैष्णवता' हैं। इन अवैष्णव अभिमानों या

विरूप-अभिमानोंको छोड़कर शुद्ध एवं उत्तम वैष्णवों का निष्कपट आनुगत्य प्रदण करने पर वैष्णव हुआ जा सकता है।

जड़स्तु कदापि चिद्गतु नहीं है। उसी प्रकार जड़भिमान भी कदापि चेतनाभिमान नहीं है। 'कायस्थकुलोद्भव शाककी सन्तान' वस्तु या ऐसा अभिमान 'वैष्णव' या 'वैष्णवता' नहीं है। यह विरूपका अभिमान या अवैष्णवता है। ऐसे अभिमानका सर्वतोभावेन परित्याग करके 'मैं कृष्णका दासानुदास हूँ, कृष्ण और कार्षणकी सेवा करना ही मेरा धर्म है—ऐसे अभिमानसे युक्त होना या ऐसा सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त होना ही वैष्णवीदीक्षा प्राप्त होना है। इसीको द्वितीय जन्म लाभ करना भी कहा जाता है। इसीके द्वारा वैष्णवता प्राप्त होती है।

विष्णुदीक्षा द्वारा 'द्वितीय जन्म' या द्विजत्व प्राप्त होने पर पूर्वजन्मके किसी भी इतिहासका परिचय नहीं रह जाता है। पूर्वजन्मका थोड़ा भी परिचय या इतिहास वच रहनेसे वैसा द्विजत्व या वैसी विष्णुदीक्षा केवल मात्र अभिनय हो जाती है। जो लोग दीक्षाप्रदणके पश्चात् भी पूर्वजन्मके परिचयसे परिचित होनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें 'अदीक्षित' या 'शोककारी' शुद्ध ही समझना चाहिये। परन्तु कभी-कभी कोई उत्तम वैष्णव या सहज परम-हंस अतिशय दीनतावश यदि अपनेको 'शुद्ध', 'अधम चण्डाल', 'यथन', नीचजाति आदि कहते हैं, तो वह उनके विरूपका धर्म या अदीक्षितावस्था का अभिमान नहीं है। वे नित्य दीक्षित या नित्यसिद्ध

या नित्य दिव्यज्ञानसे उद्भासित हैं। जिनके पाप, पापबीज अविद्या आदि नष्ट नहीं हो चुके होते, उनमें ही विरूपका अभिमान सम्भव है। किन्तु जिनकी अविद्याके प्रति आसक्ति नहीं है, उनकी वैसी उक्ति बद्धजीवकी विरूपगत उक्तिकी भाँति या एक ही श्रेणीकी नहीं हैं—इसमें कोई सन्देहकी गुणजाइश नहीं है। अप्राकृत और प्राकृतको, नित्य-सिद्ध भूमिका और नित्यबद्ध भूमिकाको, ईश्वर और जीवको, सिद्ध और साधको तथा श्रीगुरुदेवकी क्रिया, मुद्रा, व्यवहार और शिष्यकी क्रिया-मुद्रा-व्यवहारको एक समझनेसे या चित् जड़ समन्वयका प्रयास करनेसे विद्वद्वजन ऐसे प्रयासको प्राकृत—‘सहजियावाद’ और ऐसे प्रयासकारीको प्राकृत सहजिया कहते हैं।

इसलिये जिन लोगोंने सद्गुरुसे वैष्णुदीक्षा ली है, उन्हें ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य या शूद्र आदि औपाधिक कर्मकारणकी संज्ञाओंसे संज्ञित करना उचित नहीं। इसलिये श्रीसनातनगोस्वामीने दीक्षित व्यक्तिकी विप्रसाम्यता या पारमार्थिक ब्राह्मणता निर्देश की है। केवल ‘विप्र’ कहनेसे लोग कहीं वैष्णव को भी व्यवहारिक ब्राह्मणकी भाँति पुण्यकर्मफलका भोक्ता एक बद्धजीव मानकर सर्ववेदान्तविद् करोड़ों-सदाचारी ब्राह्मणोंसे भी अनन्त गुण अधिक ब्रेष्ट ब्राह्मण-गुरु-वैष्णवके चरणोंमें अपराध न कर बैठें, इसलिये सनातन गोस्वामीने ‘विप्रसाम्य’-शब्दका उल्लेख किया है। पुनः “यथा कांचनतां याति”—श्लोककी टीकामें ‘नृणां’-शब्दका अर्थ ‘सर्वेषामेव’ अर्थात् ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्यज—जिस किसी कुलमें पैदा हुआ हो, सभीका (‘एव’

शब्द द्वारा निश्चय और निःसंदेह); और ‘द्विजस्थ’ का अर्थ—‘विप्रता’ व्याख्या करके दीक्षित व्यक्तिका पारमार्थिक ब्राह्मणत्व प्रमाणित किया है। पुनः दीक्षा प्रहणकारी व्यक्तिके लिये आवश्यक कर्त्तव्योंका निर्देश करते हुए कहते हैं—दीक्षायाः सावित्र्यादि-विषयकाया भगवन्मन्त्रविषयकायाश्च यानि लक्षणानि क्रमेण यज्ञोपवीत-कमरडलु-धारणादीनि तथा कुश-श्रङ्गादि-तुलसीमालामुद्रादि-धारणादीनि तानि धरुं शीलमेवाभिति तथा ते ।” पुनः दीक्षित व्यक्तिके अप्राकृतत्वके विषयमें कहते हैं—“तेषां भौतिकदेह-ऽपि सच्चिदानन्दरूपता ।” अर्थात् भगवद् भक्तोंकी देह प्राकृत नहीं होती; दीक्षाके प्रभावसे पांचभौतिक देह भी सच्चिदानन्दरूपताको प्राप्त हो जाती है। श्रीमन्महाप्रभुने भी ऐसा ही कहा है—

प्रभु कहे,—वैष्णव-देह प्रकृत कभु नय ।

अप्राकृत देह भवतेर चिदानन्दमय ॥

दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण ।

सेह काले कृष्ण तारे करे आत्मसम ॥

सेह देह करे तार चिदानन्दमय ।

अप्राकृत देहे तार चरण भजय ॥

(चै. च. अ. ४१६१५)

अतएव दीक्षित व्यक्तिको ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्यज जातिके अन्तर्गत मानना शास्त्र, आचार्य और भगवदाज्ञका लंघनमात्र है। जो लोग वैष्णवको साधारण जातिके अन्तर्गत मानते हैं, वे वेद विरोधी-बौद्धोंके भाँति ही असंभाष्य है। मान लीजिये, रमेश भट्टाचार्य घर भगवत्सेवोन्मुख एक पुरुष पैदा हुए हैं। वे शास्त्र-विधिके अनुसार वैष्णवी दीक्षामें दीक्षित हैं। यदि उन दीक्षित पुरुषको

साधारण इन्द्रियज-ज्ञानके विचारसे उमेश भट्टाचार्य का पुत्र माना जाय तथा उनको साधारण ब्राह्मण-लोगोंके समान या कुछ अेष्ट माना जाय तो उससे उन दीच्छित पुरुषके चरणोंमें अपराध हो जायगा। क्योंकि यदि शास्त्र और आचार्योंके अध्यान्त सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, तब दीच्छित व्यक्ति कलिमें उत्पन्न होनेवाले अशुद्ध और शूद्रप्राय ब्राह्मणोंसे (हरिभक्ति-विलास ५ म. विलास) सम्पूर्ण पृथक हैं। साधारण ब्राह्मण पुण्यफलमय प्राकृत जीव है और दीच्छित व्यक्ति दीन्ता प्रहणके साथ-साथ पाप-पुण्य रूप प्राकृत व्यापारोंसे निर्मुक्त होनेके कारण 'अप्राकृत' हैं। पहले वाले साधारण ब्राह्मण केवल व्यवहारिक ब्राह्मण हैं और दूसरे व्यवहारिक ब्राह्मण नहीं, पारमार्थिक ब्राह्मण हैं। जो लोग पारमार्थिक व्यक्तिको व्यवहारिक व्यक्तिके साथ समान करना चाहते हैं, वे दीच्छित और अदीच्छितको, अप्राकृत और प्राकृतको, श्रीविष्णुपादोदक और साधारण कुएँ आदिके जलको, श्रीशालग्राम और रास्तेके पत्थरोंको, श्रीमहाप्रसाद और दाल-भातको तथा श्रीनाममन्त्र और आभिधानिक शब्दोंको एक समान समझते हैं। कुएँसे जल लाकर उससे जब श्रीशालग्रामको स्नान कराया जाता है, तब उस विष्णुस्नान के जलको कोई कुएँका जल मानकर यदि उससे अपना पैर धोवे अथवा उसका शौचआदि कार्यमें व्यवहार करे तो उस व्यक्तिको सात्वतगण्य पाषण्ड या नास्तिक कहते हैं। उसी प्रकार नीचकुलमें उत्पन्न अथवा प्राकृत अेष्ट कुलमें पैदा हुआ व्यक्ति दीन्ता द्वारा द्विजत्व या पारमार्थिक विप्रत्व प्राप्त होने पर भी उनको उनके पूर्व व्यावहारिक परिचयोंकेद्वारा

परिचित करना भी उसी प्रकारका अपराध-पूर्ण कार्य है। इसलिये जगद्गुरु श्रीव्यास देवने कहा है।

'वैष्णवे जातिबुद्धि वा नारकी सः ।'

'ये पापिष्ठ वैष्णवेर जातिबुद्धि करे ।'

जन्म - जन्म अधम योनिते पचि मरे ॥'

अतएव जो दीच्छित व्यक्तिको प्राकृत ब्राह्मण या अब्राह्मण समझते हैं, वे शास्त्र और महाजनोंके वचनोंके अनुसार पाषण्डी और नारकी हैं। कोई कोई कालापदाढ़ जैसे व्यक्ति ऐसा कह सकते हैं कि आपलोग हमें पाषण्डी या नारकी जो कुछ कहें, शास्त्र और गोस्वामी वर्ग भी हमें जो इच्छा कहें, हम तो दीच्छित व्यक्तिको भी साधारण लोगोंके समान ही देखेंगे। पारमर्थिको व्यवहारिकके समान ही समझेंगे तथा विष्णु चरणामृत और कुपें का जल ये दोनों भी हमारी दृष्टिसे सर्वदा एक ही रहेंगे।

ऐसा सुना जाता है कि प्रश्न करनेवाले महोदयके गुरुपुत्रोंमेंसे किसी - किसीने ऐसा कहा है कि वे (प्रश्नकारी) जब अब्राह्मण हैं, तब तो एकतीसवें दिन ही उनका मातृ आद्वकार्य सम्पन्न होना चाहिये। और कर्मजड़ स्मृतिके विधानानुसार ऐसा करना ही कर्त्तव्य है। यदि प्रश्नकर्त्ता अपने गुरुपुत्रोंके ऐसे विचारको प्रहण करते हैं (क्योंकि गुरुपुत्र - गोस्वामी संतान अर्थात् नित्यानन्दवंशके हैं इसलिये उनके बाक्य गुरुतुल्य ही आदरणीय हैं, अन्यथा गुरु और गोस्वामी दोनोंकी अवज्ञा हो जायगी !) तो गुरुपुत्रों और प्रश्नकर्त्ता दोनोंको ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा कि या तो वे (वृन्दावनवासी व्यक्ति) अदीच्छित नहीं हैं अथवा अवैष्णवी दीन्ता प्रहण करनेकी छलना कर पतित हैं। और यदि वे गुरुपुत्रोंकी बात न मान कर

आचार्य गोस्वामियोंके विचारको प्रहण करते हैं तो उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गोस्वामी-पुत्र 'गोस्वामी' नहीं हैं । गुरुपुत्र सब समय 'गुरु' नहीं हो सकते । अतएव कुलगुरु-प्रथा अशास्त्रीय और उपेन्द्रणीय है । ऐसी अशास्त्रीय कुलगुरु-प्रथा बनियों की बनियागिरी मात्र है अथवा साधारण कोमल-अद्भुत लोगोंको ठगनेका जालमात्र है ।

आजकल ऐसे-ऐसे लोगोंने बलपूर्वक अपने हाथों में शास्त्र-व्याख्या लेकर रखने तथा धर्म-कर्मका ठिका ले रखा है । इसीलिये आज संसारमें नाना-प्रकारके उत्पातों की बाढ़ सी आ गयी है । प्रश्नकर्त्ताने जो "नाना मुनियों के नाना मत" का उल्लेखन किया है, उसका भी कारण यही है । इसीलिये श्रीचैतन्य-महाप्रभुने इन कथाकथित नाना मुनियोंके नाना-प्रकारके मतोंका परित्याग कर महाजनोंके द्वारा प्रहण किये गये पथ पर ही चलनेका आदेश दिया है । ये तथाकथित नाना मुनि विद्वदनुभव नहीं । वे विद्वदनुभवके अभावमें शास्त्रसंगति और आपात विरुद्ध-वाचयोंका समन्वय करनेमें असमर्थ होनेके कारण यथार्थ शास्त्र-सिद्धान्तको निश्चितरूपमें जान नहीं पाते । वे कभी-कभी मुखसे ऐसा कहते हैं कि वैष्णवमें जाति बुद्धि करना अपराध है और फिर दूसरे ही त्तण उसके विपरीत कार्य करते हैं अथवा सिद्धान्त अपनाते हैं । वे कभी मुखसे ऐसा कहते हैं कि सद्गुरु प्रहण करना कर्त्तव्य है, परन्तु पुनः दूसरे ही त्तण अपनी कुप्रवृत्तिका समर्थन करनेके लिये असद्गुरुको ही 'सद्गुरु' बतलाते हैं । ऐसी वृत्ति प्राकृत-सहजिया-सम्प्रदायकी एक खास विशेषता है । जिस दिन वे ऐसी कपटता या कैतवसे मुक्त हो

सकेंगे, उसी दिन उनका कल्याण हो सकेगा, उसके पहले नहीं । ऐसी कपटता दूर होने पर ही निरपेक्ष होकर शुद्ध विचार कर सकते हैं । ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर वे गोस्वामी - पुत्रको गोस्वामी नहीं कहेंगे । जो इन्द्रियोंके दास है, वे गोस्वामी कैसे हो सकते हैं; क्योंकि गोस्वामी का तात्पर्य है, गो = इन्द्रिय-समूह; स्वामी = मालिक; अर्थात् इन्द्रियोंको अपने वशीभूत रखनेवाला व्यक्ति ही "गोस्वामी" हो सकता है । गोस्वामी वंश-परम्परासे पैदा नहीं होते । यह तो शुद्ध-शिष्य - परम्पराकी सम्पत्ति है, जो गुण और योग्यताके ऊपर निर्भर करती है । ऐसे गोस्वामीवर्ग या विशुद्ध भक्तजन स्मार्ताचारके अनुगामी नहीं होते, वे स्मार्तोंके अनुगत या अधीन नहीं होते । वे तो हरिभक्तिके प्रतिकूल कार्योंका सर्वतोभावेन परित्याग करके सदैव हरिभक्तिके अनुकूल कार्य ही करते हैं । वे पतितको पतिताचस्थासे ऊपर उठा कर पतितपावन या नित्यानन्ददास बनाते हैं, वे श्रीनित्यानन्दके अनुगामी दीक्षित श्रीउद्घारण ठाकुरके प्रति जातिबुद्धि नहीं रखते अथवा अदैव समाज उनको अपने समाजसे अलग कर देंगे—इस भयसे वे श्रीउद्घारण ठाकुरके दासानुदासोंके हाथके पकाये हुए परम पवित्र निर्गुण महाप्रसादको प्रहण करना छोड़ते नहीं । वे किसी भी मूल्यपर बहिसुख समाजका समर्थन या आदर नहीं करते । वे नित्यानन्द प्रभुके आचरणको महाप्रभु के आचरणका विरोधी नहीं जानते ।

आजकल शिष्य व्यवसायी गुरुब्रुद्ध सम्प्रदाय और गोस्वामीब्रुद्ध सम्प्रदायमें ही जब वैष्णव-शास्त्रियोंके अनुषार शुद्ध आद्वादिकार्य नहीं

किये जाते, तब उनके शिष्य-प्रशिष्य आदि किस आदर्शको देखकर वैसा करनेका सत्साहस कर सकते हैं ? प्राचीन परिणाम श्रीयुक्त विभुभूषण शास्त्री, वेदान्तभूषण भक्तिरंजन महाशयने “वैष्णव-आदृ” नामक प्रबन्धमें श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी माराजके जिस व्यवस्था-पत्रको उद्धृत किया है, उसे हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

“शुद्धवैष्णवानान्तु आद्वादि कर्मणि प्रवृत्तिर्नास्ति। यद्यपि वैष्णवश्चादृ कापि विहितदिवससंख्यानास्ति, तथापि लौकिकाचार अद्वायुक्तः कर्ममिश्रभक्तिभित्ताः स्व-स्व-वर्णाभिमानानुसारेण सूति शास्त्रविहितमेव आदृदिवसं निरुपयन्ति । तथा चोक्तं—वैष्णव-पितृ-णामपि श्रीविष्णुदिने आदृप्रहणायोगाद्”; एकदश्यान्तु प्राप्तायां मातापित्रोमृतेऽहनि । द्वादशयां तत् प्रदातव्यं नोपवासदिने क्वचित् ॥” श्रीहरि-भक्तिविलासोक्तिवशादेवैतत् प्रतिपादितं यदुपवास-दिवसं परित्यज्य तत्परदिन एव आदृ कुर्यादेष विधिः । पुनश्चायमेव विशेष-विधिर्यद् वैष्णवानान्तु प्रेतत्वं नास्तीति; सुतरां तेषु प्रेतबुद्धि परित्यज्य वैष्णवधिया महाप्रसादपिण्डेनैव आदृ कुर्यात् । तथा च श्रीहरिभक्तिविलासोक्तः—“प्राप्ते तु आदृ-वासरे” इत्यादि अन्येन प्रतिपत्तं—यद् विप्र एकाद-शाहने, त्रियज्ञयोदशाहेन, वैश्यः पोदशाहेन, शुद्ध-

स्त्वेकत्रिशाहेन एवमन्त्यजश्च एकचत्वारिंशाहिवसेन आदृमनुतिष्ठतीति समाप्तः ।”

निष्किंचन हरिनामैक परायण वैष्णवोंके लिए आद्वादि अनुष्ठानका अवसर नहीं है अर्थात् उनके लिए आदृकी व्यवस्था नहीं है । जो सम्पूर्ण रूपसे निष्किंचन नहीं हो पाये हैं, वे भी वैष्णवी-दीक्षामें दीक्षित ‘पारमार्थिक ब्राह्मण होनेके कारण विष्णु सेवापरायण ब्राह्मणके पालनीय आचारोंका पालन करेंगे अर्थात् ग्यारहवें दिन विष्णुनैवेद्यद्वारा संकीर्तन और वैष्णवसेवादिके माध्यमसे आदृ करेंगे। इसके अतिरिक्त जो विद्व वैष्णव हैं, उनमें प्राकृत अभिमान प्रबल रहनेके कारण अपने-अपने अभिमानके अनुसार विष्णु नैवेद्यके द्वारा आद्वादि कार्य सम्पादन करते हैं । अर्थात् ब्राह्मण अभिमान रहने पर ग्यारहवें दिन, त्रिवियाभिमानसे तेरहवें दिन, वैश्याभिमानसे सोलहवें दिन, शूद्राभिमानसे एकतीसवें दिन और अन्यज्ञाभिमानसे एकचालिसवें दिन विष्णुनैवेद्य और वैष्णव भोजन आदि द्वारा आद्वादि क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं । किन्तु उनके लिये राज्ञस-आदृ या प्रेत आदृ सब प्रकारसे परिवर्जनीय हैं ।

—जगद्गुरु विष्णुपाद श्रीलसरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

वेदानुग्रुव और वेदविरुद्ध अपसम्प्रदाय

(पूर्वप्रकाशित वर्ष १०, संख्या १-२, पृष्ठ १३ से आगे)

प्र० २१. पंचोपासनाकी विष्णुप्रासना क्या शुद्ध वैष्णवधर्म नहीं है ?

“पंच उपासनामें जो विष्णुकी उपासना है, उसमें दीक्षा, पूजादि सभी विष्णु-विषयक होने पर भी और कभी राधाकृष्ण विषयक होने पर भी वह शुद्ध वैष्णवधर्म नहीं है।”

जै. ध. ४ था अ.

प्र० २२. केवल काशीवासी अद्वैतवादी संन्यासी ही क्या मायावादी हैं ?

“बाराणसी निवासी संन्यासी प्रसिद्ध मायावादी हैं। * * उनके मतानुयायी पञ्चोपासक गृहस्थ सभी मायावादी ही हैं। * * वैष्णव-मन्त्रसे दीक्षित होने पर भी इन मतवादियोंको मायावादी कहा जा सकता है। यहीं नहीं, जो लोग अपनेको श्रीचैतन्य-देवका भक्त कहते हैं, उनमेंसे भी अधिकांश मायावादी हैं। बाढ़ल-दरबेरोंके मत भी मायावादी हैं।”

—‘मायावादी किसे कहते हैं ?’, स. तो. ५।१२

प्र० २३. शंकराचार्यजीने मुक्तिके पश्चात् जीव की गतिके सम्बन्धमें क्या कहा है ?

“केवल मुक्ति पानेके पश्चात् जीवकी क्या अपूर्व गति होती है, इस विषयमें श्रीशंकर निस्तब्ध हैं। * * जो लोग केवल उनकी शिक्षाके बाहरी अंशको

लेकर ही समय नष्ट करते हैं, वे ही केवल वैष्णवधर्मसे दूर रहते हैं।”

जै. ध. २ रा अ.

प्र० २४. राजा राममोहन रायके द्वारा प्रवर्चित ब्राह्म-धर्मका स्वरूप क्या है ?

“राजा राममोहन रायके द्वारा प्रचारित ब्राह्म-धर्म — ईसाई और हिन्दूधर्मका विकृत मिश्रण है। ऐसे धर्ममें सत्यकी प्रतिष्ठा होगी, ऐसा माना नहीं जा सकता। ब्राह्म धर्मावलम्बियोंने ईसाई और विलायती तार्किकोंसे केवल शान्तरसकी उत्तमताकी शिक्षा प्रदान करके उससे श्रेष्ठ दास्य, सख्य, बात्सल्य और मधुररसों की अवज्ञा करनेका प्रयास किया है * * जो लोग पहले एकिसयम (Axiom) और पस्टुलेट (Postulate) का ज्ञान प्राप्त न कर Geometry (रेखागणित) की शिक्षा प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, उनकी जैसी दुर्गति होती है, वैसे ही जो व्यक्ति प्राकृताप्राकृत वस्तुका पार्थक्य न समझकर सर्वप्रथम रसका ही विचार करमें तत्पर होते हैं, उनके सिद्धान्तों की भी वही गति होती है।”

प्र० २५. ब्राह्मधर्मावलम्बिगण गुरुपदाश्रयका विरोध क्यों करते हैं ?

“गुरुपदाश्रय करनेसे कहीं कुशिक्षा न मिल जाय—इसी भयसे सदगुरु प्राप्त करने के लिये वे

लोग यत्न भी नहीं करते और वैसे गुरु प्राप्त करने पर भी उन्हें भक्ति नहीं करते। असद्गुरु शिष्योंको कुपथगामी बनाते हैं, इसी भयसे वे लोग सद्गुरुका भी वहिकार करते हैं।”

—त. वि. १ म अनु. २८

प्र० २६. जड़भजन किसे कहते हैं?

“जड़ संसारमें जो आकाश है, वह सर्वव्यापी और निराकार है। ऐसे व्यक्तियोंके ईश्वर भी वैसे ही हैं। इसीका नाम जड़ भजन है।”

प्र० २७. आध्यात्मिक और अप्राकृत तत्त्व क्या एक ही है?

“आध्यात्मिक और अप्राकृत तत्त्वका वैज्ञानिक सूक्ष्म भेद जब तक जाना नहीं जाता, तब तक इन दोनों शब्दोंका व्यवहारमें विचार नहीं होता। शुष्क-बादियोंको अप्राकृत भावोदय होना कठिन है। अत्यन्त सुकृतिके प्रभावसे अप्राकृत तत्त्वमें रति (रुचि) होती है। अन्यथा आध्यात्मिक वितर्करूप चहरदीवारीके उसपार रहकर अप्राकृत वैचित्र्यका दर्शन नहीं किया जा सकता।”

—‘समालोचना’ स. तो. ६।२

प्र० २८. Trinity मतवादकी उत्पत्ति कैसे हुई?

“जरदूबख्ख अत्यन्त प्राचीन परिष्ठित थे। भारत-वर्षमें उनके मतका आदर न होनेके कारण उन्होंने ईरान देशमें अपने मतका प्रचार किया। उनका मत संक्रामक होकर यहूदीओंके धर्ममें और अन्तमें कुरान मतावलम्बियोंके धर्ममें प्रवेश कर परमेश्वरके समकक्ष एक शैतानको पैदा किया। जिस समय

जरदूबख्ख दो ईश्वर विषयक मतका प्रचार कर रहे थे, उसी समय यहूदियोंमें तीन ईश्वरकी आवश्यकता जान पढ़ने पर Trinity मत उत्पन्न हुआ।”

—त. वि. १ म अनु. २९

प्र० २९. Trinity मतका विस्तार किस प्रकार हुआ?

“वहले Trinity मतमें तीन पृथक्-पृथक् ईश्वरोंकी कल्पना की गई। तत्पश्चात् जब परिष्ठितों को उससे सन्तोष नहीं हुआ, तब उन्होंने गाँड़ (God) होली घोस्ट (Holy Ghost) और क्राइस्ट (Christ)—इन तीन तत्त्वोंके विचारद्वारा उनकी युक्त मीमांसा की। जिस कालमें या जिस सम्प्रदायमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव—इन तीनोंको पृथक् पृथक् ईश्वरके रूपमें कल्पना की गई, उसी समय भारतवर्षमें भी तीन ईश्वरविश्वास-रूप एक महान अनर्थकी उत्पत्ति हुई थी। परिष्ठितोंने इन तीनों देवताओंका तात्त्विक एकत्व प्रतिपादन कर शास्त्रोंके अनेक स्थलोंमें भेद-निषेधक उपदेश दिये हैं।”

—त. वि. १ म अनु. २९

प्र० ३०. तान्त्रिक शक्तिवादकी उत्पत्ति किस दर्शनसे हुई है?

“विभिन्न तन्त्रोंके मत विभिन्न प्रकारके हैं। किसी एक विशेष दर्शनसे तान्त्रिक शक्तिवाद उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक जगह जिसे स्वीकार किया है, अन्यत्र उसे अस्वीकार किया गया है। कहीं परब्रह्मको सर्वकर्ता माना गया है, तो कहीं प्रकृतिको और कहीं जीवको। किसी स्थानमें जीवको ‘मिथ्या’ माना गया है, और कहीं ‘सत्य’।

कही 'नादबिन्दु' को, कही 'प्रकृति-पुरुष' को और कही 'केवला-प्रकृति' को समस्त कर्त्तृत्व दिया गया है।"

—त. वि. १ म अनु. १४

प्र० ३१. तान्त्रिक शक्तिवादका वास्तविक स्वरूप क्या है ?

"सभी तन्त्रोंमें जो लता-साधन, पञ्चमकार-साधन, सुरा-साधन आदि प्राणालियाँ बतलाई गई हैं, वे किसी आस्तिक दर्शनसे संग्रह की गई हैं, ऐसा जान नहीं पड़ता। निरीश्वर कर्मके अपूर्व या मन्त्रात्मक देवता एवं कमटी (कोंत) आदिकी काल्पनिक प्रकृति-पूजा व्यतीत तान्त्रिक शक्तिवाद और कुछ नहीं है।"

—त. वि. १ म अनु. १४

प्र० ३२. मायावादकी उत्पत्तिका संक्षिप्त इतिहास क्या है ?

"बौद्धमत ही क्रमशः तान्त्रिक मत हो पड़ा। इस इस समय मायावाद रूपी एक वादकी [सृष्टि हुई। वह मत बौद्धधर्ममें बौद्ध नामसे ही था। किन्तु बौद्ध-मतके अतिरिक्त अन्यान्य लोगोंमें प्रचलन बौद्ध-मतरूप मायावाद प्रचारित होने लगा।"

—त. वि. १ म अनु. १४

प्र० ३३. मायावादी आस्तिक हैं या नास्तिक ?

"मायावादी वास्तविक रूपमें नास्तिक हैं।"

—'वैराग्यार', चै. च. म. ६ प.

प्र० ३४. शैव-मत कहाँ से उत्पन्न हुआ है ?

"हमारी समझमें शैव-मत कपिलके सांख्यसे

उत्पन्न हुआ है। किन्तु इस मतमें प्रकृतिका विशेष सम्मान होनेके कारण भूलसे अतत्त्वज्ञ व्यक्तियोंने इस मतको तांत्रिक मतके साथ एक कर दिया है। यद्यपि तंत्र-मतमें किसी-किसी स्थानमें एक चनेकी दो दालोंसे प्रकृति-पुरुषकी उपमा दी गई है, तथापि फलकालमें प्रकृतिको चित्तत्वकी प्रसवित्री माना गया है।"

—त० वि० १ म अनु० १४

प्र० ३५. बौद्ध-मत और जैन-मतका प्रचार क्यों हुआ ?

"भारतवर्षमें ब्राह्मणोंके एकाधिपत्य और निरीश्वर-कर्मवादके प्रचारसे त्रियादि अन्यान्य बर्णके व्यक्ति अत्यन्त जुँध हुए। अतएव त्रियोंने दलबद्ध होकर बौद्ध-मत और वैश्योंने दलबद्ध होकर जैन-मतका प्रचार किया।"

त० वि० १ म अनु० १३

प्र० ३६. बौद्ध और जैन-मतका संक्षिप्त सार क्या है ?

"बौद्ध-मतानुसार अनेक जन्मोंमें दया और वैराग्यका अभ्यास करते हुए शाक्यसिंह बुद्ध पहले बोधिसत्त्व और अन्तमें बुद्ध हुए। उनके मतानुसार नम्रता, धैर्य, त्तमा, दया, निःस्वार्थपरता, चिन्ता, वैराग्य और मैत्री आदि गुणोंका अभ्यास करते-करते जीव परिनिर्वाण प्राप्त करता है। इस परिनिर्वाणमें जीवका अस्तित्व नहीं रहता। सामान्य निर्वाणमें जीवकी दयास्वरूप होकर अवस्थिति होती है। जैनोंका कहना है कि अन्य सभी सद्गुण दया और वैराग्यके अनुगत होकर अभ्यस्त होने पर जीव

क्रगमतिके अनुसार नारदत्व, महादेवत्व, वासुदेवत्व परवासुदेवत्व, चक्रवर्तित्व, और अन्तमें निर्वाणगत भगवत्तत्वको प्राप्त करता है। दोनों मतोंमें ही जड़ जगत् नित्य है, कर्म अनादि है, परन्तु अन्त्युक्त है। अस्तित्व ही क्लेश है, परिनिर्वाण ही सुख है; जैमिनि द्वारा प्रकाशित वैदिक कर्म-तत्त्व जीवोंके लिए अमज्जल है। परिनिर्वाणकी प्राप्तिकी विधि ही मंगलजनक है, इन्द्रादि देवता कर्मवादके प्रभु हैं, किन्तु निर्वाण-वादीके सेवक हैं।”

—त० वि० १ म अनु० १३

प्र० ३७. पाश्चात्य देशोंमें बौद्ध और जैन धर्म की तरह क्या कोई निर्वाण धर्म है ?

“बौद्ध और जैन धर्मकी तरह यूरोपमें भी एक निर्वाणवाद प्रचलित है। इस धर्मको पेसिमिसम (Pessimism) कहते हैं। पेसिमिसम और बौद्ध धर्ममें कुछ विशेष भेद नहीं है, केवल यही भेद है कि बौद्ध धर्ममें जीव जन्म-जन्मान्तरसे क्लेश स्वीकार कर भटक रहा है। किसी जन्ममें निर्वाण-विधिका अवलम्बन कर निर्वाण और क्रमशः परिनिर्वाण प्राप्त करेगा। किन्तु पेसिमिसम मतके अनुसार जीव का जन्म-जन्मान्तर नहीं है।”

प्र० ३८. आनुकरणिक अवतारवाद क्या समर्थन योग्य है ?

“कई लोगोंने स्थान-स्थान पर ‘नये गौराङ्ग’ होनेकी चेष्टा की थी ; इस कार्यमें जो एक-निष्ठ थे, वे प्रायः ही मायावादी हैं। गुप्तवेशमें हरि-कीर्तनादि (?) के द्वारा कई व्यक्तियोंमें मोह उत्पन्न किया था। कोई गौराङ्ग, कोई नित्यानन्द और कोई

अद्वैत होकर दलबलके साथ हरिकीर्तन (?) करने लगे। लोगोंमें भ्रम पैदा करना ही उन लोगोंका तात्पर्य था। आश्चर्यकी बात यह थी कि वे कीर्तन के समय ऐसा हावभाव प्रकाश करते थे कि अधिकांश व्यक्ति उनके हावभाव देखकर यही समझने लगते थे कि गौराङ्ग महाप्रभु पुनः आविर्भूत हुए हैं। उनमेंसे कई अंग्रेजी भाषामें शिक्षित और थियोसफि (Theosophy) आदि पाश्चात्य शास्त्रमें खूब निपुण थे। उनमेंसे कोई-कोई हमारे पास आकर कहते थे—‘जब स्वयं भगवान गौर-चन्द्र उदित हुए हैं, तब उनके पार्षद होकर आप लोग निश्चिन्त क्यों हैं ?’

—‘नववर्षमें विगत वर्षकी आलोचना’, सच-

िल्ली स० तो० दा१

प्र० ३९. ‘समन्वयवादी’ आथवा ‘खड़-जाठिया’ क्या शुद्ध भक्त हैं ?

“भक्तको देखनेसे ही अशु-पुलक होता है। कभी कभी कथाकी आलोचनामें दशा (१) को प्राप्त करते हैं। फिर आध्यात्मिक समामें आध्यात्मिक मतकी सहायता करते हैं, और कभी विषयोंमें आविष्ट होकर विषय-चेष्टामें उन्मत्तकी तरह व्यवहार करते हैं। क्षेक्षेक वे जगतको ऐसी व्यवहार-शिक्षा देकर शुद्ध भक्तिके प्रति केवल अपराध ही नहीं करते, बल्कि संसारी जीवोंको भी सर्वनाशकी पथमें ले जाते हैं।”

—‘भक्तिके प्रति अपराध’, स० तो० दा१०

प्र० ४०. आत्मवद्धक कौन है ?

“जो व्यक्ति दीक्षाके विरोधी होकर केवल कपट-कीर्तनादिका रङ्ग दिखाकर अपनेको ‘बैधुण्व’ अभिमान करते हैं, वे नितान्त आत्मवद्धक हैं।”

—‘तत्त्वत्कर्म प्रवर्त्तन’, स० तो० १११६

प्र० ४१. विल्ली-भगत कौन हैं ?

“विल्ली-भगत वास्तव भक्तिकी नित्यता स्वीकार नहीं करते, किन्तु बाहरमें वे सभी चिह्नोंको धारण करते हैं। अपना मतदाव गाँठना ही उनका उद्देश्य होता है।”

—चै० शि० ३।३

प्र० ४२. मंत्राचार्य कौन हैं ?

“भण्ड-तपस्त्री और विल्ली-भगत ही मंत्राचार्यकी कपट पदबी कर छिपे-छिपे नाना प्रकारके पाप-कार्य करते हैं।”

—‘वैरागी वैष्णवोंका चरित्र विशेषतः निर्मल होना चाहिए।’

—स० तो० ५।१०

प्र० ४३. धर्मध्वजी कौन हैं और कितने प्रकार के हैं ?

“जो व्यक्ति धर्मके सभी बाह्य चिह्नोंको तो धारण करते हैं, परन्तु धर्मका पालन नहीं करते, वे धर्मध्वजी हैं। धर्मध्वजी दो प्रकारके हैं अर्थात् कपट और मूढ़, अर्थात् वज्रक और वज्रित।”

—‘जनसङ्ग’ स० तो० १०।१।

प्र० ४४. परिपक्व योगीका अनुकरण करनेवाले कपट व्यक्तियोंका स्वभाव कैसा होता है ?

“केवल वेशधारी व्यक्ति कपट पक्के योगीका वेश धारण कर जगतको ठगते-फिरते हैं। पक्के-योगीका अनुकरण करते हुए जीवन धारणपूर्वक वे अपनी-अपनी महिमाकी वृद्धि और इन्द्रियसुख को चरितार्थ करनेकी चेष्टा करते हैं। हरि-कीर्तन ही शुद्ध धर्म या कृष्ण-धर्म है। अतएव कपट रूपसे कीर्तन धर्मका आश्रय लेकर पक्के योगीकी तरह कर्म धर्मादिके प्रति स्वेच्छाचारी होकर सुख-विलास विहारादि प्रकाश कर साधारण व्यक्तियोंमें भ्रम

चत्पन्न करते हैं। उसका फल यह होता है कि वे जिन सुख-विलास-विनोदादिके द्वारा लोगोंमें भ्रम उत्पन्न करते हैं, उन्हीं विलासोंसे उन वेशधारियों का अधः पतन होता है। कीर्तनादिमें कपट रोदन और मूच्छादि ही वे सब विलास हैं। उनके द्वारा वे विषयी लोगोंके विषयी हो पड़ते हैं। वैष्णव-वेश और भिजुकाश्रमादिके बाह्य वेशादिको प्रहण करनेसे उनका वैष्णवाभिजात्य उत्पन्न हो जाता है इस कारणसे वे शुद्ध वैष्णवोंके निकट कदापि पहुँच नहीं पाते। कुप्रामवासी नितान्त प्राकृत व्यक्तिका आश्रय प्रहण करते हैं, और प्राकृत व्यक्तियोंका सङ्ग करते हैं। समय-समय पर कृष्णगुण-महिमा-शून्य होकर भी कपट अनुरागके लक्षणोंको नर्तीकोंकी तरह पुलक प्रेमादि बाह्य रसके द्वारा प्रकाश करते हैं। क्रमशः वे सभी दिखावटी लक्षण उनके विलास-स्वरूप बन जाते हैं।”

—‘भजनामृतम्’

प्र० ४५. संसारमें सबसे बड़ा कुसङ्ग क्या है ?

“विषयी बलिक अच्छे हैं, परन्तु धर्मध्वजीकी तरह संसारमें और कोई कुसङ्ग नहीं है। कपट धर्मध्वजी जगतकी वज्रना करनेके अभिप्रायसे धर्मके बाहरी चिह्नोंको धारण करते हैं और अपने हुष्ट-अभिप्रायकी मिठिके लिए मूढ़ व्यक्तियोंको ठगते हुए उस कार्यमें उनकी भी प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे कोई ‘गुरु’ होते हैं और दूसरोंको शिष्य कर संसारमें शाठताके द्वारा प्रतिष्ठा, द्रव्य और कनक-कामिनीका संप्रह करते हैं। इन सभी कपट कुटिल व्यक्तियोंका सङ्ग परित्याग करने पर साधक लोग सरलतासे भजन कर सकते हैं।”

—‘जनसङ्ग’, स० तो० १०।१।

(क्रमशः)

—जगद्गुरु उ० विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सद्गुरुके निकट एक जिज्ञासु

एक दिन श्रील आचार्यदेव प्रातः-कृत्यसे निवृत्त हो श्रीश्रीराधाविनोदबिहारीजीके सम्मुख आसन पर विराजमान होकर एकान्त चित्तसे, श्रीनाम-भजन कर रहे थे। उसी समय एक निष्कपट भगवद् भजन पिपासु कृष्णदास नामक व्यक्ति उनके श्री-चरणोंमें उपस्थित हुए और दण्डबत-प्रणामकर उनके निकट ही बैठ गये। उनके मनमें कुछ शंकाएँ उठ रही थीं, जिनकी वे श्रीआचार्यदेवके निकट मीमांसा कराना चाहते थे। आचार्यजीने आगन्तुकके मनोभावको समझकर, उससे पूछा—‘तुम्हारा नाम क्या है ? तुम क्या चाहते हो ?’

कृष्णदासने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—‘मेरा नाम कृष्णदास है। मैं संसाररूपी दुःख-समुद्रमें काम, क्रोध, लोभ आदि भयानक भगर आदि जल-जन्तुओंसे कबलित होकर नाना प्रकारकी दुर्बासना रूप शृङ्खलामें आबद्ध पड़ा हूँ। पिंजड़ेमें बन्द पक्षी जिस प्रकार पराधीनताकी जंजीरमें आबद्ध रहकर, अशेष दुःख भोग करता है, उसी प्रकार मैं भी जागतिक मोह-शृङ्खलासे आबद्ध और संसार सागरको तैरकर पार करनेमें अपटु होनेसे बीचमें ही छुबकियाँ खा रहा हूँ। तथा नाना प्रकारके दुःखोंका भोग कर रहा हूँ। पिंजरेमें बद्ध पक्षी जिस प्रकार लाख कोशिश करने पर भी स्वयं उस पिंजरेसे मुक्त होकर स्वच्छन्द भ्रमण नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं सांसारिक तापोंसे जर्जरित हो, माया-बन्धनसे

मुक्त होनेमें नितान्त असमर्थ हूँ। इस अवस्थामें सांसारिक दुःखोंसे मुक्ति लाभ करनेके लिये संसार क्या बस्तु है ? संसारमें कौन बस्तु सार है ? उसमें कौन बस्तु असार है ? जीवको संसारमें क्यों आना पड़ता है ? मैं कौन हूँ ? मेरा कर्तव्य क्या है ? तथा सांसारिक यंत्रणाओंसे किस प्रकार छुटकारा मिल सकता है ? इत्यादि तथ्योंके समझनेके लिये किसी तत्त्वविद् गुरुके चरणोंमें आश्रय लेनेकी परमावश्यकता है। ऐसा निश्चय कर मैं आपके श्री-चरणोंमें शरणागत हुआ हूँ। आप कृपा कर मेरे समस्त संशयोंका छेदन कर मुझे आत्मसात् करें। मैं सबसे पहले यह जानना चाहता हूँ कि—संसार क्या है ?

कृष्णदासका प्रश्न सुनकर आचार्यदेव बड़े प्रसन्न हुए और बोले—तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। परम सौभाग्यवान ही ऐसा प्रश्न करते हैं। सुनो, संसार शब्दसे साधारणतः जगत्, देह, माया बन्धन अथवा मायाजनित वासना इत्यादिको समझा जाता है। और भी गंभीरतापूर्वक विवेचन करने पर ऐसा निश्चित होता है कि अनन्त कोटि ब्रह्मारणोंका कर्ता, भोक्ता एवं पालन-पोषण करनेवाला तथा नियन्ता पूर्णज्ञ श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही जीवके एकमात्र अवलम्बन हैं। इस तथ्यको जब जीव भूल जाता है तथा इसके विपरीत वह अपनेको ही कर्ता, भोक्ता तथा नियन्ता समझ बैठता है, उस समय

ऐसे कृष्णविमुख जीवोंको कृष्णोन्मुख करनेके उद्देश्यसे, सर्वशक्तिमान श्रीकृष्णकी अघटन-घटन-पटीयसी मायाशक्ति उन सब जीवोंको संसार-सागरमें निमिज्जित कर नाना प्रकारके दुःखोंका भोग कराती है—

कृष्ण भूलि से ई जीव अनादि-बहिमुख ।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख ॥

(य. य. म: २०१११७)

संसारमें जितने भी सामयिक सुख दिखलायी पढ़ते हैं, वे सभी दुःखदायक, असार एवं अनित्य हैं। मृत्युपरान्त संसारमें उपलब्ध होने वाली धन, जन आदि वस्तुएँ यहीं की यहीं धरी रह जाती हैं। वास्तवमें संसार विषय भोगोंको भोगनेका स्थान नहीं; वल्कि वह तो केवल पराशान्तिरूप कृष्ण-सेवा सुखलाभ करनेके लिये एक अनुकूल स्थान है।

केवल मनुष्य देह ही भगवद् भजन करनेके लिये नौका स्वरूप है। देवता, यज्ञ, गन्धर्व इत्यादि योनियाँ प्राप्त कर भोगोन्मत्त हो भगवानको भूल जाना नैसर्गिक है, किन्तु इस लोकमें मानव देह धारण कर जीव विभिन्न दुःख, क्लेश सहन करते हुए भगवानका सेवा-सुखलाभ करनेमें सहसा समर्थ हो सकता है। इसीलिये शास्त्रोंमें मानव जन्मको हरिभजनका मूल कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुखम् सुभं सुदुर्लभं,
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन न भस्वतेरितं
पुमाद् भवाद्दि न तरेत् स आत्महा ॥

(भा. ११२०१७)

यह मानव देह समस्त देहोंसे अेष्ट है। यह सुदुर्लभ होने पर भी सुलभ हो गई है। यही संसार सागरसे पार होनेके लिये पटुतर नौका है। गुरुदेव ही इसके कर्णधार हैं। कृष्ण-कृपारूप अनुकूल वायु द्वारा प्रचालित होने पर इस संसार सागरसे पार हुआ जा सकता है। जो ऐसा नहीं करते हैं, वे आत्मधाती हैं।

अतएव जीव कृष्णदासत्वको विस्मृत होकर, संसार समुद्रमें नाना प्रकारके कष्टोंका भोग कर रहे हैं, वे यदि इन कष्टोंसे मुक्त होकर कृष्ण-सेवा प्राप्त करना चाहते हैं तो वे केवल मनुष्य जन्ममें ही कृष्ण सेवा पा सकते हैं। यही जन्म कृष्ण सेवा पानेका प्रधान आधार है।

लक्ष्मा सुदुर्लभमिदं वहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।

तृणं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावत्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

(भा. ११६०२६)

अनेक जन्मोंके परचात् यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। इसलिये यह आत्यन्त दुर्लभ है। यह जन्म अनित्य होने पर भी परमार्थको देनेवाला है। जिस अर्थको प्राप्त कर लेने पर मनुष्यके हृदयमें जगतके अर्थोंकी प्राप्ति के लिये स्पृहा नहीं रहती, उसी अर्थको पूज्यपाद श्रीश्रील सनातन गोस्वामीजी ने प्राप्त किया था और उसी अर्थको प्राप्त कर लेनेके फलस्वरूप ही उन्होंने स्पर्शमणिको भी तुच्छ समझकर यमुनाजीकी रेतीमें फेंक रखा था। यहाँ तक कि भिजुक ब्राह्मणने भी श्रीश्रील सनातन गोस्वामीजी

से श्रीकृष्ण प्रेमरूपी उसी अर्थको प्राप्तकर स्पर्शमणि को नदीमें फेंक दिया तथा संसारमें लगी हुई समस्त आशाओंका भी मूलोच्छेद कर भगवद् भजनमें तत्पर हो गया। वह परमार्थ वस्तु इस जगतमें अत्यन्त ही दुर्लभ है।

यद्यपि यह संसार भगवानकी त्रिभुवन मोहनी माया शक्तिकी ताण्डवस्थली है, फिर भी मनुष्योंके लिए, यह संसार नित्य गोलोक-वृन्दावन-बिहारी द्विमुज सुरलीधर श्यामसुन्दर मदन मोहनकी नित्य सेवा प्राप्त करनेकी अनुकूल स्थली भी है।

कृष्णदास—इसमें सार और असार क्या है?

आचार्यदेव—उपर्युक्त सिद्धान्त-समूहद्वारा ऐसा निर्णीत होता है कि यह संसार असार है। क्योंकि इस परिहृश्यमान जगतमें हम जो कुछ भी देखते हैं उन सबकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है। उनमें कभी भी नित्यत्व और सारत्व विद्यमान नहीं रह सकता। किन्तु असार और अनित्य होने पर भी संसारका एक बैशिष्ठ्य है। वह यह कि बुद्धिमान लोग यहाँ रहकर असार वस्तुओंकी उपलब्धि कर, सारतत्वके अनुसंधानमें तत्पर होकर स्वयंको कृत-कृतार्थ किया करते हैं।

कृष्णदास—यहाँ जीवको क्यों आना पड़ता है?

आचार्यदेव—

जीवर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दाम ।

कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ॥

कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि बहिमुख ।

अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख ॥

(चै. च. म: १०८, ११७)

कृष्ण बहिमुख हइया भोग बांधा करे ।
निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे ॥
पिशाची पाइबे येन मतिच्छ्रव हय ।
मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय ॥

(प्रेम विवृत)

जीव स्वरूपतः कृष्णका दास है। जीव जब अपने स्वरूपको भूलकर, मायिक आकर्षणोंकी कामना कर बैठता है, उस समय वह इस दुष्पार माया जगतमें पतित हो जाता है। तथा जन्म और मरणकी श्रद्धलामें फँस जाता है। जीवका गठन तटस्था शक्तिसे होनेसे वह स्वभाविक रूपसे माया जालमें फँसने योग्य है। जीव स्वतंत्रतावश जो कुछ भी सत् और असत् कर्म करते हैं, उसका फल भोगनेके लिये उन्हें पुनःपुनः इस संसारमें जन्म लेना और मरना (शरीर त्याग करना) पड़ता है। जीव मरणकालमें जिन-जिन भावनाओंका स्मरण कर शरीर त्यागता है, देहान्त होनेपर उनके अनुरूप ही वह दूसरा जन्म प्राप्त करता है—

देहे पञ्चतत्वमापने देही कर्मानुगोडवशः ।

देहान्तरमनुप्राप्य प्रात्कन्तं त्यजते वपुः ॥

(भा १०१३६)

इस प्रकार जीव स्व-स्व कर्मानुसार ही शरीर घारण और शरीर परित्याग करता है—

ते तं भ्रुवत्वा स्वरूपोकं विशालं

क्षीणे पुण्डे मृत्युलोकं विशम्नित ।

एवं त्रयीधर्मंमनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ६२१)

जीव यद्यपि पुण्य कर्मोंके कलसे स्वर्ग लाभ करता है। परन्तु वहाँ अपने पुण्यकर्मोंके अनुरूप सुख-भोगकर पुण्य ज्ञय होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आगमन करता है। इस प्रकार काम-कामी जीव वेदत्रयीके अनुगत होकर संसारमें पुनः पुनः जन्मता और मरता है।

कृष्णदास—प्रभो ! मैं कौन हूँ ?

आचार्यदेव—मैं जीव अथवा आत्मा हूँ और स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास हूँ। ‘आमि नित्य कृष्ण दास एই कथा भूले। मायार नफरहइया चिरदिन बूले।’ इस कथन द्वारा प्रतीत होता है कि जीव अथवा मैं स्वरूपतः नित्य कृष्णदास हूँ। कृष्ण प्रभु हैं और मैं उनका दास हूँ। कृष्ण यन्त्री हैं और मैं यन्त्र हूँ। कृष्ण पूर्ण चिदस्तु हैं और मैं अगु चिदस्तु हूँ। इससे प्रमाणित होता है कि मैं विकार प्रस्तरूपमें माया कबलित होनेके कारण अपनेको मायाका दास मानता तो हूँ परन्तु स्वरूपतः मैं कृष्णका दास ही हूँ।

कृष्णदास—मेरा कर्तव्य क्या है ?

आचार्यदेव—समस्त प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर इन्द्रियों द्वारा अनुकूल कृष्णानुशीलन करना ही जीवका एकमात्र कर्तव्य है। “हृषीकेण हृषीकेश

सेवनम्,” हृषीक शब्दका अर्थ इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियाधिपति हृषीकेश भगवानकी सेवा करना ही प्रयोजन है।

आन्याभिलापितायून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिहत्तमा ॥

(भ. र. सि. पृ. वि. ११६)

कृष्णेतर विषयोंमें अनासक्त एवं ज्ञान और कर्म से निर्लिप्त रहकर अनुकूल कृष्णानुशीलनमें तत्पर रहना ही जीवका एकमात्र कर्तव्य है।

कृष्णदास—किस प्रकार सांसारिक कष्टोंसे छुटकारा पाया जा सकता है ?

आचार्यदेव—अद्वा सहित कृष्णतत्त्वविद् सद्गुरुका पदाभ्य प्रदणकर उनके द्वारा उपदिष्ट कृष्णनाम, कृष्णमन्त्र और गायत्रीका सम्यकरूपमें कीर्तन और जप करते-करते जीवके समस्त पातक नष्ट हो जाते हैं तथा हृदयमें विशुद्ध भक्ति एवं कृष्ण प्रेमका उदय हो जाता है।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥

(जा. १२१६)

—श्रीगौड़ीय पत्रिकासे अनुदित
अनुवादक—श्रीसत्यपाल ब्रह्मचारी बी. ए.

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

पंचम धारा अचिन्त्यभेदभेद-तत्त्व

इससे पहले कृष्ण, कृष्णशक्ति, कृष्ण-रस, जीव-स्वरूप, बद्गीत और मुक्तजीव—इन छः प्रमेयोंका विवेचन हो चुका है। इस धारामें अचिन्त्यभेदभेद-तत्त्वका संज्ञेयमें विवेचन किया जा रहा है। सबसे पहले श्रीचैतन्यमहाप्रभुके इस विषयसे सम्बन्धित उपदेशोंकी (चैतन्यचरितामृतसे) अवतारणा की जा रही है। काशीके प्रख्यात् मायावादी संन्यासी प्रकाशानन्द सरस्वतीको शिक्षा देते समय श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—

शक्तिपरिणामवाद—

व्यासेर सूत्रेते कहे परिणामवाद । (क)
व्यास भान्त वति ताँर उठिल विवाद ॥
परिणामवादे ईश्वर हयेन विकारी ।
एत कहि विवर्तवाद स्थापन जे करि ॥
वस्तुतः परिणामवाद सेह से प्रमाण ।
देहे यात्मबुद्धि हय विवर्ते स्थान-॥
अविचिन्त्यशक्तियुक्त श्रीभगवान् ।
इच्छाय जगतुपये पाय परिणाम ॥ (क)

(क) यथोल्मुकाद्विस्कुलिङ्गाद्भूमाद्वापि स्वसंभवात् ।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥ (भा० ३।२८।३०)

(ख) कालाद्गुणाध्यतिकरः परिणामः स्वभावतः ।

कर्मणो जन्ममहतः पुरुषाधिष्ठिताद्भूत ॥

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजः सत्त्वोपवृहितात् ।

तमः प्रधानस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ॥ (भा० २।५।२२)

तथापि अचिन्त्य शक्तये हय अविकारी ।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे हृषान्त धरि ॥
नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते ।
तथापिद्वो मणि रहे स्वरूप अविकृते ॥
स्वरूप ऐश्वर्यं ताँर माहि माया गन्ध ।
सकल वेदेर हय भगवान् ये सम्बन्ध ॥
तहि निविशेष कहि चिच्छक्षित ना मानि ।
महुं स्वरूप ना मानिले पूर्णतासे हानि ॥
पुनः सार्वभौम-शिक्षाके अवसर पर वे कहते हैं—
उपनिषद् शब्दे येह मुख्य अर्थ हय ।
सेह अर्थ मुख्य व्याससूत्रे तथ कर ॥
मुख्यार्थं द्वादिया कर गोणार्थं कहपता ।
अभिघा वृत्ति द्विकृ कर शब्देर लक्षणा ॥
कासीवासी संन्यासी-शिक्षाके समय और भी कहा था—
प्रणवसे महावाय वेदेर निदान ।
ईश्वर-स्वरूप प्रणव सर्व विश्वधाम ॥
सर्वाश्रय ईश्वरेर प्रणव उद्देश ।
‘तस्वमसि’ वाय हय वेदेर एकदेश ॥

प्रणव महावाक्य ताङ्करि आच्छादन ।
महावाक्ये करि तत्त्वमसिर स्थापन ॥
प्रभु कहे वेदान्तसूत्र ईश्वर वचन ।
व्यासरूपे केल ताहा श्रीनारायण ॥
भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाठव ।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइ सब ॥
उपनिषद् सहित सूत्र कहे जेइ तत्त्व ।
मुख्यवृत्त्ये सेड अर्थं परम महत्व ॥
गीणार्थं जेवा भाष्य करिल आचार्य ।
ताहार अवणे नाश हय सर्व कार्य ॥
ताहार नाहिक दोष ईश्वर आज्ञा पाज्ञा ।
गीणार्थं करिल मुख्य अर्थं आच्छादिया ॥
त्रहा शब्दे मुख्य अर्थे कहे भगवान् ।
षड्श्वर्यं परिपूर्ण अनुद्धृत समान ॥
ताहार विभूति देह खब चिदाकार ।
चिद्विभूति आच्छादिया कहे निराकार ॥
चिदानन्द तिहों ताँर स्थान परिवार ।
ताँरे कहे प्राकृतसत्त्वेर विकार ॥
ताँर दोष नाहि तिहों आज्ञाकारी दास ।
आर येइ शुने तार हय सर्वनाश ॥

भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यदेवके इन महावाक्योंका
फलितार्थ यह है कि प्रणव अर्थात् 'ओंकार'—कृष्ण
का गृह नाम है, वेदका आदि बीज है तथा सर्व-
वेदमय शब्दब्रह्म है। प्र+नु (स्तुति करना)+अन्
=प्रणव । स्तवनीय परब्रह्मका शाश्विदक अवतार ही
ऊँकार है। ऊँकारसे सारे वेद प्रकटित हैं। वास्तवमें
प्रणव ही वेदका बीज एवं महावाक्य है तथा वेदके
दूसरे-दूसरे सभी वाक्य प्रादेशिक वाक्य हैं। माया-
वादके प्रचारक श्रीशंकराचार्यने प्रणवकी महावाक्यता

को आच्छादित कर (१) अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही
ब्रह्म हूँ) (२) प्रज्ञानं ब्रह्म (प्रज्ञान ही ब्रह्म है),
(३) तत्त्वमसि (तुम ही ब्रह्म हो) और (४)
एकमेवाद्वितीयं (एकके अतिरिक्त दो नहीं है)—
इन चार प्रादेशिक वेदवाक्योंको ही महावाक्य
चतलाया है। उनके ऐसा कहनेका कारण यह था कि
वे शुद्धभक्तिको ढक कर केवल अद्वैतवाद रूप
मायावादका प्रचार करना चाहते थे। वेदबीज
प्रणव शुद्धभक्तिप्रचारक होनेके कारण उसे महावाक्य
स्वीकार करनेसे उनकी अभीष्ट सिद्धिमें बाधा
उपस्थित होती थी। इसलिये उन्होंने वेदके यथार्थ
महावाक्यको लोडकर अपने मतकी पुष्टिके अनुकूल
वेदके उपर्युक्त चार प्रादेशिक वाक्योंको ही महा-
वाक्य चतलाकर अपने अभीष्ट मत केवलाद्वैतका
प्रचार किया। उनके केवलाद्वैत मतके अनुसार माया-
ब्रह्म जीवकी माया-निर्मित सत्ता और ब्रह्मकी ईश्वरता
मायाके कारण ही है। ब्रह्मनिर्वाण या माया-
विच्छेदसे ही जीवकी मुक्ति होती है। परन्तु इसमें
परब्रह्मके साथ जीवका जो शुद्ध सम्बन्ध हैं, उसे
छिपा दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें वेद
का सर्वाङ्गीण विचार भी नहीं है। इसलिये श्री-
मध्याचार्यने कठिपय वेद-वाक्योंके आधार पर द्वैत-
मतकी स्थापना की है। परन्तु इसमें भी वेदका
सर्वाङ्गीण विचार न रहनेके कारण सम्बन्ध तत्त्व
प्रस्फुटित नहीं हुआ। श्रीरामानुजाचार्यने भी
विशिष्टाद्वैतवादमें सम्बन्धज्ञानको परिस्फुट नहीं
किया है। द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बादित्य स्वामीने
भी उसी प्रकार कुछ अंशोंतक असम्पूर्णताका ही
प्रचार किया है। विष्णुस्वामीने भी अपने प्रचारित

शुद्धादैत मतमें कुछ अस्पष्टता रख छोड़ी है। अन्तमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने प्रेमधर्मकी नित्यता स्थापित करनेके लिये अचिन्त्यभेदभेदवाद द्वारा सम्बन्धज्ञान की सम्पूर्ण शुद्धताकी शिक्षा देकर जगतको वितरकं रूप अन्धकारसे उदारा है। श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—एकमात्र प्रणव ही महावाक्य है; उसमें जो अर्थ है, वह उपनिषदोंमें जाग्वल्यमान है। उपनिषद की शिक्षाओंका श्रीछयासदेवने अपने ब्रह्मसूत्रमें अनुमोदन किया है। व्याससूत्रके पहले सूत्र “जन्माद्यस्य यतः” में ही परिणामवादकी प्रतिष्ठा है। ठीक इसी परिणामवाद की शिक्षा “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इस उपनिषद मंत्रमें दी गयी है। श्रीमद्भागवतमें भी इसी अर्थका प्रतिपादन हुआ है। परिणामवाद स्वीकार करने से ब्रह्मको विकारी मानना पड़ता है—ऐसी आशंका कर श्रीशंकराचार्यने विवर्तवादकी स्थापना की है। वास्तवमें ब्रह्मविवर्त ही समस्त दोषोंका मूलाधार है। परिणामवाद सर्वशास्त्र सम्मत विशुद्ध सत्यतत्त्व है। परमेश्वरकी शक्तिकी नित्यता स्वीकार नहीं करनेसे परिणामवादमें परमेश्वरके विवर्त-विकार आदि महादोषस्वरूप हैं। परन्तु परब्रह्मकी नित्य स्वाभाविकी पराशक्ति स्वीकृत होने पर उन दोषोंकी संभावना नहीं रहती। शक्तिका जो विचित्र विकार है, उसीसे विश्व हुआ है—यही सत्य है। ब्रह्म कदापि विकारी नहीं हैं। ब्रह्मकी शक्तिके विकारके फलस्वरूप जड़ जगत् और जैव-जगत् हुआ है। श्रीचैतन्य-

महाप्रभुजीने इस विषयमें चिन्तामणिका हप्तान्त दिया है। चिन्तामणिसे स्वर्ण निकलने पर भी वह स्वयं अविकृत रहती है, उससे उसमें कोई हास-वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार कृष्ण शक्तिसे ही सम्पूर्ण सृष्टि हुई है, तथापि कृष्ण उससे विकारी नहीं होते। सब कुछ शक्तिका ही परिणाम है। चित् शक्तिके पूर्ण परिणामसे वैकुण्ठ आदि धाम, नाम, रूप, गुण, लीला और अगु-परिणामसे असंख्य चित् करण जीव-समूह हुए हैं। मायाशक्तिके परिणामसे समस्त जड़ जगत् और जीवोंके स्थूल और लिंग शरीर हैं। जड़ जगत् कहनेसे चौदह भुवनको ही समझना चाहिए। वेदान्त सूत्रमें और उपनिषदोंमें सर्वत्र ही इस परिणामवादका उल्लेख है। महत्त्व, अहंकार, आकाश, तेज, वायु, जल और पृथ्वी—इनके क्रम परिणामविकाश ही परिणामवाद है। केवल-अदृष्टवादका पोषण करनेसे चरमावस्थामें कुछ भी हाय नहीं लगता। उसमें “जीव और जगत् अविद्याकलिपत हैं।”—केवल ऐसी ही प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति निराधार एवं कष्टकल्पनामात्र है (क)। शुद्धपरिणामवादसे कृष्णकी इच्छासे जैव-जगत् और जड़-जगत् हुए हैं और ये सत्य हैं। सृष्टि कोरी कल्पना या कलिपत नहीं है। परन्तु सत्य होने पर भी कृष्णकी इच्छासे जड़-जगतका लय हो सकता है। इसीलिये जगत्को नश्वर कहा जा सकता है। चिन्मय-स्वरूप परमेश्वर सृष्टि करके जगत्में अगु-प्रविष्ट होकर भी स्वयं स्वतन्त्र पूर्णशक्तिद्वारा

[क] श्रेयः सृति भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।

तेषामसी वलेश्वल एवं शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावधातिनाभ् ॥ भा० १०।१४।४

परिसेवित स्वेच्छामय कृष्णके रूपमें नित्य पृथकरूपमें विराजमान हैं। (ख) जो इस अपूर्व तत्त्वको जान लेते हैं, केवल वे लोग ही श्रीकृष्णके अपार ऐश्वर्य और माधुर्यका आस्वादन करनेमें समर्थ हैं। श्रीकृष्ण और जीवमें यही यथार्थ सम्बन्ध है। नेश्वर जगत् के साथ जीवका सम्बन्ध अनित्य है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार किसी धर्मशालामें ठहरे हुए व्यक्तिका उस धर्मशाला या उसमें ठहरे व्यक्तियोंके साथ अनित्य सम्बन्ध होता है। कल्याणकामी जीव को संसारिक पदार्थोंके प्रति युक्त वैराग्य अवलम्बन करके उनका भगवत्-सेवाके उपकरण रूपमें सद-व्यवहार करना उचित है। जब तक ऐसी नित्यानित्य सम्बन्ध बुद्धि उदित नहीं होती, तब तक बद्धजीवमें उचित क्रिया उदित नहीं होती है।

इस सिद्धान्तके अनुसार कृष्णसे जीवका भेद

और अभेद दोनों हैं। साथ ही कृष्णसे जगत्का भी भेद और अभेद सत्य है। मानव-बुद्धि ससीम होने के कारण उसके द्वारा उक्त भेदाभेदको समझा नहीं जा सकता, इसलिये भेदाभेद तत्त्वको “अचिन्त्य” कहा गया है। अचिन्त्य होने पर भी युक्ति या तर्क को इसमें असन्तुष्ट होनेकी बात नहीं है। भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है—यह युक्तिसंगत ही है। उस शक्तिसे जो कुछ स्थापित हुआ है, वह भी हमारे लिये कृपालब्ध तत्त्व है (ग)। अचिन्त्य भावमें तर्क नहीं बढ़ाना चाहिये—ऐसा हमारे प्राचीन आचार्यों का उपदेश है; क्योंकि अचिन्त्य विषयमें तर्क कभी भी प्रमाणके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं होता (घ)। जो लोग इस तंत्र्यको समरण नहीं रखते, उनकी दुर्दशा-का अन्त नहीं होता।

[ख] यथा महान्ति भूतानि भूतेषु च्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहं ॥ भा० २।६।३४

[ग] यावानहं यथा भावो यदुपगुणकर्मकः ।
तर्थैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुश्वहाव ॥ भा० २।६।३५

[घ] अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तकेण योजयेत् ।
प्रकृतिरूपः परं यच्च तदचिन्तस्य लक्षणम् ॥
“नैषातकेण मतिरापनेया” इत्यादि वेदवाक्याणि ॥

स्वाधीनता

अधिकांश लोगोंकी यह धारणा है कि देशको स्वाधीन कराये बिना, मन भी स्वाधीन नहीं हो सकता; मनके स्वाधीन हए बिना धर्म-कर्म कुछ भी नहीं होता। क्या यह विचार ठीक है? वे लोग वास्तवमें धर्म-कर्म करनेके भयसे ही मनको पराधीन कहकर आलस्य दिखलाते हैं; जिसका परिणाम बहुत ही अद्वितीय होता है। धर्मनुष्ठानके अतिरिक्त कार्योंमें उनका मन अच्छी प्रकारसे व्यभृत दीख पड़ता है। उस समय स्वाधीनता और पराधीनताका कोई विचार ही नहीं उठता। उन लोगोंका मन खो पुत्रादिके प्रति आसक्त होता है, इन्द्रिय तर्पणकी उत्कट लालसा होती है और वह उत्तम-उत्तम द्रव्यों के व्यवहार करनेमें बड़ा ही उफुल और स्वाधीन दिखलायी पड़ता है। उस समय मनमें न तो किसी प्रकारका विकार और न विशृङ्खलता ही रहती है। किन्तु जभी कोई सन्त-साधु धर्मोपदेश करता है तभी उनका पूर्वोक्त प्रलाप शुरू हो जाता है। देवी मायाके अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण ही उनके विचार इस प्रकार हो जाते हैं। जिस प्रकार औषधि कड़वी होने पर रोगी उसका सेवन न करनेकी इच्छा से वैद्यके साथ झगड़ा करता है, उसी प्रकार हम मायामुग्ध जीव भी भव-व्याधिको समूल नष्ट करने वाले सद्गुरु अथवा भक्तोंके उपदेश पालनमें अवहेलना किया करते हैं। उस समय हम चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगते हैं, “नहीं भाई! मैं यह दवा न लूँगा—आप मेरे माया-फोड़ाको जबर-जस्ती फोड़कर, उसके मवादको बाहर निकाल देना चाहते हैं, इससे तो मेरे प्राण ही निकल जायेंगे; मुझे जन्म-जन्मान्तर तक व्याधि रहे, किन्तु मैं फोड़ेको नष्ट नहीं होने दूँगा। साधुजन मेरे मनकी आसक्तिको नष्ट करना चाहते हैं। उसे मैं नष्ट नहीं होने दूँगा। शास्त्रोंके इस कथनको कि—“सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनो व्यासंग मुक्तिभिः” “सफल नहीं होने दूँगा।”

लोग 'स्वदेश' 'स्वदेश' चिल्लाते हैं; किन्तु स्वदेश कहाँ है ? इस तथ्यको किसीने एक बार भी क्या वास्तवमें अनुभव किया है ? जिस आकाश, पर्वत, जल, खेत, फूल और फल इत्यादि प्राकृति सौन्दर्यको देखकर हम मोहित हो रहे हैं—क्या ये वास्तवमें हमारे हैं ? यदि यही हमारा स्वदेश है तो क्या इस प्रकार चिल्लाने से इसकी रक्षा की जा सकेगी ? यहाँ की मिट्टी यही है, यही थी और यही रहेगी और यह सब समय नहीं रहेगी । इस पर भी मैं यहाँ पुनः आऊँगा या नहीं; यह कोई ठीक नहीं है । यह तो मेरी नहीं है । यदि यह मेरी होती, तो इसका मुझसे नित्य सम्बन्ध होता । उसे कभी छोड़ना नहीं पड़ता ।

‘मैं’ शब्दका विचार करने पर मालूम पड़ता है कि ‘मैं’ एक नित्य चेतन वस्तु हूँ और जो मिट्टी, जल, पर्यन और आकाश इत्यादि तत्त्व दिखलायी पड़ रहे हैं, वे सब अनित्य हैं। ‘मैं’ जो नित्य तत्त्व है, उसका निवास स्थान गोलोक-बैकुण्ठ धारा है। वही मेरा स्वदेश है। गोलोक पति भगवान् श्रीकृष्ण और उनके भक्तजन ही मेरे आत्मीय-स्वजन हैं। उनको अवाध रूपमें प्रेम करना ही वास्तवमें मेरी स्वाधीनताका परिचय है। नित्य और अनित्य विवेक ही मेरी वास्तविक स्वाधीनता का ज्ञान है। नित्य वस्तु जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है अन्यथा वैसे ज्ञानसे रहित जीवके समान मूर्ख इस दुनियाँमें बौद्ध नहीं है। हे भक्तजन ! आप सुभ अधम पर कृपा करें—यह मेरी करबद्ध प्रार्थना है। भगवन् जनोंकी कृपा प्राप्त हो जानेपर गोलोक-पति श्रीकृष्णकी कृपा अवश्य ही होगी—ऐसा मेरा निश्चय है।

—श्रीहरिदास राय

कृतिपृथ्य मात्-प्रसन्

‘केशव’ कृपाल जग काटत जंजाल, गुरु
 देत हरिनाम अरु हरि की सुभक्ति हैं ।
 ज्ञान है प्रचण्ड, करे पापनकु’ खण्ड-खण्ड,
 गौरगण वाणी सुधा, धारत विरक्त हैं ॥
 राधा विनोद प्रिय, लोलुप मधुप हिय,
 हीन बुद्धि ‘सत्य’ गुन वरने अशक्ति है ।
 दुष्टनकु’ सिंह सम, भक्तकु’ गऊ सम,
 मम परमाराध्यतम गौर कृपा शक्ति हैं ॥१॥

युगल मूरति चित्त, सदा रहें रससिक्त,
 भावना रहे जिय राधिका तिहारी हैं ।
 संतन की टोली संग, नाचत उन्मत्त रंग,
 खोल करताल बजावत ब्रह्मचारी हैं ॥
 भाव में विभोर रह, हरिकथा कह-कह,
 खोलत निरमल प्रेम की पिटारी है ।
 भक्ति-रस तत्त्व-सत्त्व, नाम को महत्त्व औ,
 जन-जन ‘सत्य’ कीरतन प्रचारी हैं ॥२॥

पहिन अरुण वस्त्र, धारिके वचन अस्त्र,
 घूमत त्रिदण्डधर भारत भू सारी हैं ।
 शास्त्रन को सुन सार, भागें विपक्षी हार,
 दंत तुण धार भावें शरण तिहारी हैं ॥
 नाम को प्राचर, गौर वाणी को प्रसार कर,
 भक्ति राज लायबे को ब्रत उर धारी हैं ।
 पतित सिरमौर ‘सत्य’, बैठे कुसंग नित्य,
 शरण तिहारी रहिबे को भिखारी हैं ॥३॥

—श्री सत्यपाल ब्रह्मचारी बी० ए०

साहित्य-समालोचना—

सहयोगी-वैद्यनाथ-सिद्धान्तानुयायी “बल्लभ-प्रकाश” शुद्धाद्वैतवादका प्रमुख पारमार्थिक पत्र है । यह द्वैमासिकरूपमें प्रति ऋतुके नामसे प्रकाशित होता है । सम्पादक—शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य गोस्यामी श्रीवृजरमणलालजी महाराज हैं । हर वर्षीरम्भमें एक विशेषाङ्क निकलता है । पिछला विशेषाङ्क ब्रजयात्रा-अङ्क विशेष सज-धज कर निकला है । वार्षिक मूल्य ३) है । प्राप्तिस्थान—श्रीबल्लभप्रकाश-कार्यालय, बंगाली घाट, मथुरा ।